

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सत्साहस-संघर्ष प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य पञ्चमे दिवसे शुभे ।

जिज्ञासुः स हि दुर्वासा महर्षिः प्रमुखोऽभवत् ॥ १ ॥

स्थितः सोऽग्रिमपंक्तौ च जिज्ञासां स्वां च व्याहरन् ।

ओजोगंभीरया वाचा पिप्पलादमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

टीका—पाँचवें दिन के आरण्यक सत्र के प्रमुख जिज्ञासु थे महर्षि दुर्वासा । वे अग्रिम पंक्ति में बैठे और अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए ओजपूर्ण गंभीर स्वर में पिप्पलाद से बोले ॥

१-२ ॥

दुर्वासा उवाच—

ब्रह्मविद्या प्रवृत्तीनां संवर्धन - प्रसङ्गके।
देव यद् भवता प्रोक्तं कृतार्था वयमत्र तु ॥ ३ ॥
तथाप्येकं तु पश्यामो ह्यसमञ्जसमत्र यत् ।
संसारे व्याप्तदुर्भावैः संघर्षः किंविधो भवेत् ॥ ४ ॥
आसुराक्रमणैरात्मरक्षायै के ह्युपायकाः ।
आश्रितव्या इदं चापि कृपयाद्य निगद्यताम् ॥ ५ ॥
स्त्रष्टुः पवित्रसृष्टौ तु कस्माद्धेतोरवस्थितम् ।
अधर्मास्तित्वमेतद् यज्जगत्सर्वं दुनोत्यलम् ॥ ६ ॥

टीका—देव आपने ब्रह्मविद्या के सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन प्रसंग पर जो प्रकाश डाला, उससे हम सभी कृतार्थ हुए हैं, फिर भी एक असमंजस बना हुआ है कि इस संसार में सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता से किस प्रकार निपटा जाए? आसुरी आक्रमणों से आत्मरक्षा के लिए किन उपायों का अवलंबन किया जाए? कृपया यह भी बताएँ कि स्त्रष्टा की पवित्र सृष्टि में अधर्म का अस्तित्व किस कारण बना हुआ है, जो सारे जगत को पीड़ित किए हुए है ॥ ३-६ ॥

व्याख्या—महर्षि दुर्वासा कहते हैं कि पहले चार सत्र व्याख्यानों के सत्संग से आत्मकल्याण, विश्वकल्याण, ईश्वर मिलन जैसे दैवी अनुदान तो पा लिए। जो मनुष्य को पाने योग्य दिव्य विभूति सदज्ञान है, उसे पाकर मार्गदर्शन मिला है पर एक अड़चन फिर भी बनी है। अच्छाई के साथ बुराई भी चारों ओर व्याप्त है। हम भले बनें, वह तो ठीक है। पर सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता तो अपनी कुटिल भूमिका निभाएगी ही। उससे कैसे मोरचा लिया जाए? दुःख यह भी होता है कि पृथ्वी पवित्र है, जीव मात्र सबके कल्याण उत्थान हेतु ही स्त्रष्टा द्वारा भेजे गए हैं, फिर अधर्म क्यों? सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के साथ दुष्टता प्रतिकार, दुष्प्रवृत्ति निवारण की चर्चा किए बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना का प्रसंग अधूरा ही रह जाता है।

दुर्वाससो महर्षेस्तां सहजां प्रकृतिं तथा।
प्रवृत्तिं पिप्पलादस्य कृतः प्रश्नोऽभ्यरोचत ॥ ७ ॥
समयानुकूलं तं प्रश्नं श्रुत्वा च सराह्य च।
सत्रसञ्चालको ऽवादीत्पिप्पलादो हसन्निव ॥ ८ ॥
पिप्पलाद उवाच
रुचेर्भवत आसक्तेरपि चात्र समर्थनम्।
समाधानं च सम्मानं ब्रह्मविद्याविधौ वरम् ॥ ९ ॥
अनीतेः प्रतिरोधोऽपि नीतिपक्षसमर्थनम्।
एकमास्ते तथाऽस्यापि महत्त्वं विद्यते ध्रुवम् ॥ १० ॥

टीका—महर्षि दुर्वासा की सहज प्रकृति और प्रवृत्ति को देखते हुए उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न पिप्पलाद को अच्छा लगा, उस समयानुकूल प्रश्न को सुनकर और सराहना करके सत्र के सूत्र संचालक पिप्पलाद ने हँसते हुए कहा, आपकी

रुचि और रुझान का भी ब्रह्मविद्या में समुचित समाधान, सम्मान और समर्थन है। अनीति का प्रतिरोध नीति समर्थन का एक पक्ष है तथा इसका भी निश्चित महत्त्व है ॥ ७-१० ॥

व्याख्या—ऋषिगणों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दुर्वासा ऋषि का सहज स्वरूप एक ही रहा है अनीति के विरुद्ध कड़ा मोर्चा बनाना। तपश्चर्या भक्ति परमार्थ यह भी एक क्षेत्र है और दुष्टता से संघर्ष भी इसका दूसरा पहलू है। यहाँ वे अपनी उसी भूमिका की मर्यादा महाप्राज्ञ पिप्पलाद से जानना चाहते हैं। महाप्राज्ञ उनके इस रुझान व मनःस्थिति को जानते हुए कहते हैं कि ब्रह्मविद्या में अनीति के विरुद्ध प्रतिकार को भी समान महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मविद्या व साधना विज्ञान के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों गीता एवं दुर्गासप्तशती में साधना-समर, अनीति-प्रतिरोध की ही विवेचना की गई है। गीता में युद्धस्व संबोधन स्थान-स्थान पर आया है। अपने अंतः के कुसंस्कारों से, बाहर के आक्रमणों से युद्ध ही इन दोनों ग्रंथों का मूल विषय है। इस पक्ष की अवहेलना किए बिना अध्यात्म दर्शन की चर्चा अधूरी ही रह जाती है। अवांछनीयता, अनैतिकता हर युग में, हर अवतार के समय में पाई गई। इनसे संघर्ष की हर एक युगानुकूल भूमिका बनी व तदनुसार तैयारी हुई है। ध्वंस व सृजन सुधार एवं दुलार भगवत् सत्ता के ये दो पक्ष सदा-सदा से मुखरित होते आए हैं। उनकी चर्चा अध्यात्म ग्रंथों में स्थान-स्थान पर की गई है।

संसारेऽवाञ्छनीयत्वमतएव तु विद्यते।
सहानुभूतिं कुर्यात्तन्यायनिष्ठां प्रति सदा ॥ ११ ॥
समर्थने च तस्या हि प्रखरं तत्पराक्रमम्।
कर्तुं च प्रेरयेद्रात्रिर्नोचेच्छ्रैष्ठ्यं दिनस्य न ॥ १२ ॥
अनस्तित्वमनीतेश्चेन्नीतेः किं गरिमा जनैः।
ज्ञायेताऽधर्मसदभावे धर्मसंस्थापनोदयः ॥ १३ ॥
यदि रोगा न संत्वेव चिकित्सायास्ततः कथम्।
विज्ञानस्य भवेत्सा तु स्थापना प्रगतिस्तथा ॥ १४ ॥
अज्ञानजन्य हानिभ्य आत्मानं रक्षितुं वयम्।
मनीषिणः सदा ज्ञानसाधनां कर्तुमुद्यताः ॥ १५ ॥
एवं स्त्रष्टा हानियुक्तमनावश्यकमप्यदः।
अवाञ्छनीयताऽस्तित्वं स्थापयामास मन्यताम् ॥ १६ ॥

टीका—संसार में अवांछनीयता भी इसलिए है कि वह न्यायनिष्ठा के प्रति सहानुभूति उभारे और उसके समर्थन में प्रखर पराक्रम करने की प्रेरणा दें। यदि रात्रि न हो तो दिन की विशिष्टता ही न रहे। अनीति का अस्तित्व न हो तो नीति की गरिमा लोग कैसे समझेंगे? अधर्म के रहने पर ही धर्म संस्थापना का प्रयास होता है। यदि रोग ही न हों तो चिकित्सा विज्ञान की स्थापना और प्रगति ही कैसे हो? अज्ञान की हानियों से बचने के लिए हम मनीषी लोग ज्ञान की साधना करते हैं।

१.४४ प्रज्ञोपनिषद्

इसी प्रकार सृष्टा ने अनावश्यक एवं हानिकारक लगते हुए भी संसार में अवांछनीयता का अस्तित्व रखा है ऐसा समझो ॥ ११-१६ ॥

व्याख्या—भगवान अपने प्रिय राजकुमार की परीक्षा अवांछनीयता की माया रचकर ही लेते हैं। जब तक इनसे जूझने का माद्दा अंदर से उत्पन्न नहीं होता, प्रखरता उत्पन्न नहीं होती। खिलाड़ी को पैना बनाने के लिए अपने से अच्छे कुशल खिलाड़ी से ही खिलाया जाता है। कोई भी प्रशिक्षक मार्गदर्शक इसमें सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता। भगवान भी एक परीक्षक है। वह चाहता है कि उसका बेटा समर्थ बने और वह तब तक संभव नहीं जब तक मोरचे पर उसे खुला न छोड़ दिया जाए।

महाप्राज्ञ दिन-रात्रि, अनीति-नीति, अधर्म-धर्म, रोक-चिकित्सा, अज्ञान-ज्ञान के मर्मस्पर्शी उदाहरणों द्वारा अपने मंतव्य को बड़ी कुशलतापूर्वक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस अनीति अनाचार को भी भगवान की एक देन मानें जो हमारी परीक्षा सतत लेती रहती है। कुरेद-कुरेद कर यह देखती है कि पराक्रम मनु, सत्साहस की मनुष्य में कहीं कमी तो नहीं है।

मानवी बुद्धि सहज ही सोच सकती है कि अवांछनीयताएँ अनावश्यक होते हुए भी क्यों विद्यमान हैं। यह भी इसलिए है कि हमें नीति स्थापना के लिए प्रेरणा मिले। सहज ही कमरे में गंदगी प्रवेश करती है पर सफाई के लिए हमें प्रेरणा दे जाती है। शरीर से विजातीय द्रव्य पसीने आदि के रूप में सहज क्रम में निकलते हैं पर हमें स्वच्छता की प्रेरणा दे जाते हैं।

व्यायामभवने ये तु युद्धयन्ते हि परस्परम्।

शूरावीराश्च जायन्ते बलिष्ठा नात्र संशयः ॥ १७ ॥

पराक्रमो नरस्यास्ति महत्त्वमहिता गुणः।

उदयः संभवस्तस्य संघर्षेणैव नान्यथा ॥ १८ ॥

एतादृशे त्वनायाते जीवनेऽवसरे नरः।

वञ्चितः प्रतिभायाश्च प्रखरताया अपि त्वलम् ॥ १९ ॥

येन स निष्प्रभं दीनहीनमेव हि जीवति।

जागृतिस्तत्परत्वं च प्रखरता संति सद्गुणाः ॥ २० ॥

इमे त्रयो गुणा न्यायपक्षमाश्रित्य सर्वथा।

युद्धयमाने भजन्त्याशु विकासं तु महामुने ॥ २१ ॥

टीका—व्यायामशाला में दैनिक रूप से परस्पर जूझने से ही शूरवीर बलिष्ठ होते हैं इसमें संदेह नहीं। पराक्रम मनुष्य का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसे संघर्ष द्वारा ही उभारा जाता है। ऐसा अवसर न आने पर मनुष्य प्रतिभा और प्रखरता से वंचित रहता है, जिससे वह गया-गुजरा दीन-हीन जीवन ही जी सकेगा। जागरूकता, तत्परता और प्रखरता ये तीनों गुण न्याय

के समर्थन में अन्याय से जूझने पर ही विकसित होते हैं ॥ १७-२१ ॥

व्याख्या—शरीर में बल हो, न हो, अंदर से प्रखरता न उभरे तो वह व्यर्थ है। शरीर की दृष्टि से बलिष्ठ बनने के लिए पहलवान नित्य साधना करते हैं, अपने से अधिक समर्थ बलशाली से दो-दो हाथ करते हैं तभी उनके गुण उभरकर आते हैं। मात्र आहार व नित्य व्यायाम तो सिद्धांत का एकांगी पक्ष है। व्यवहार वह है जिसमें अपने आपको सान पर चढ़ाया जाता है। यदि मनुष्य इससे दूर भागता है अथवा उसे अवसर नहीं मिलता तो वह अंतः की प्रखरता, बुद्धि का पैनापन तथा शरीर की बलिष्ठता जैसी विभूतियों से वंचित ही बना रहता है। जब वह जूझने का साहस पैदा कर लेता है तो जागरूकता, तत्परता, प्रखरता जैसी सद्गुण संपदा पाकर कृतकृत्य हो जाता है। जागरूकता अर्थात् वांछनीय-अवांछनीय पहचान सकने की क्षमता, तत्परता अर्थात् तुरंत निर्णय लेकर क्रियान्वयन करने की क्षमता, प्रखरता अर्थात् न्याय, रक्षा हेतु किस प्रकार मोरचा लेना, इस क्षमता का विकास।

विश्व इतिहास की रश्मियाँ यह बताती हैं कि संसार संघर्ष का रंगमंच है जिसमें व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र अपने सिद्धांतों, आदर्शों की रक्षा के लिए संघर्षरत होकर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। यह संघर्ष ही वस्तुतः श्रेष्ठता की कसौटी है। ऐसा देखने में आया है कि इन युद्धों में हार उन्हीं की हुई जो आदर्शहीन और दुर्बल मनोबल के थे। पर जो सत्य, न्याय और आदर्शों का संबल लेकर लड़े उन्हें कोई भी पराभूत नहीं कर सका। उन्हीं को विजय मिली, न्याय जिनके पक्ष में था, क्योंकि सत्य की शक्ति मानवों को निरंतर युद्ध करने की क्षमता प्रदान करती है और जो लंबे समय तक संघर्षरत रह सकता है सुनिश्चित रूप से अंतिम विजय भी उसे ही उपलब्ध होती है।

अज्ञानं चाप्यभावश्च श्रेण्यामस्यां निरूपिते।

देवास्त्रयो ज्ञानकर्मादार्थनामान एव ते ॥ २२ ॥

अज्ञानमथसोऽभावोऽन्यायश्चैते त्रयोऽसुराः।

विद्यन्तेऽनादिकालाच्च युद्धयन्ते तु त्रयस्त्रिभिः ॥ २३ ॥

दैवासुरस्तु संग्राम एष एवास्य हे मुने।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे महाभारतकस्य तु ॥ २४ ॥

साधना समरस्यैते संति योद्धार एव ये।

योद्धव्यं तैः सदैवात्र युद्धाद् ये विरमन्ति च ॥ २५ ॥

भर्त्सनां ते लभन्ते च मोहग्रस्तो यथार्जुनः।

वाञ्छन्पि न वै कश्चिद् संघर्षाद्दूरमाब्रजेत् ॥ २६ ॥

टीका—अज्ञान और अभाव भी इसी श्रेणी में आते हैं। तीन देवता हैं ज्ञान, कर्म और औदार्य। तीन असुर हैं अज्ञान, अभाव और अन्याय। इन्हीं के बीच अनादिकाल से संघर्ष

चलता आ रहा है। यही देवासुर संग्राम है। इसी महाभारत के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में साधन-समर के शूरवीर योद्धा को निरंतर जूझना पड़ता है। जो इससे बचने का प्रयत्न करेगा उसे मोहग्रस्त अर्जुन की तरह भर्त्सना सहनी पड़ेगी, कोई संघर्ष से बचना चाहे तो भी नहीं बच सकता ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या—अनीति की ही श्रेणी में अज्ञान और अभाव आते हैं। ज्ञान, कर्म और उदारता इन तीन देववृत्तियों की चर्चा पिछले प्रकरण में की जा चुकी है। संसार में प्रकाश और अंधकार के युग की तरह इन देवों के भी प्रतिरोधी अज्ञान, अभाव, अन्याय के रूप में विराजमान हैं। अंतर्जगत के समरांगण में हर व्यक्ति को एक संग्राम का सामना करना होता है जिसमें ज्ञान से अज्ञान को, कर्मशीलता से अभाव को तथा उदारता की वृत्ति से अन्याय को चुनौती देकर उन्हें परास्त करना पड़ता है। इन तीन असुरों की काट इन तीन अस्त्रों से ही हो सकती है। इसका अन्य कोई विकल्प नहीं।

मनुष्य चाहे तो भी इस संघर्ष से बच नहीं सकता। विशाल भारत की स्थापना व संकीर्ण स्वार्थपरता को मिटाने के लिए स्वयं भगवान के रहते हुए भी महाभारत हुआ ही। अज्ञान, अभाव व अनाचार की वृत्ति यदि अंदर विद्यमान है तो इनसे प्रतिकार हेतु स्वयं को तैयार करना ही पड़ेगा। नहीं करेंगे तो मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। उसे किसी न किसी प्रकार ऐसा करने की सीख मिलती है व उसे सही कदम उठाने के लिए विवश कर देती है।

मक्षिका मसका यूका मत्कुणा मूषकादयः।

वृश्चिकादयएतेऽस्मान् विवशान् कुर्वते भृशम् ॥ २७ ॥

आत्मरक्षां प्रकर्तुं तान् दूरीकर्तुं महामुने।

आक्रांतान् साहसं ग्राह्यमित्थं सर्वत्र दृश्यते ॥ २८ ॥

अनौचित्यस्य सहनान्तु स्वमस्ति त्वं विपद्यते।

द्वितीया हानिरेषास्यादाक्रांतारस्तु निर्भयाः ॥ २९ ॥

स्वस्यास्तु दुष्टतायास्ते परिमाणे महत्तमे।

प्रयोगमाचरिष्यन्ति यच्च कष्टकरं भवेत् ॥ ३० ॥

साधनैः साहसेनापि यास्यन्तीमे सुपुष्टताम्।

व्यक्तयः केचनान्येभ्यो विपद्भेतुकरा मताः ॥ ३१ ॥

टीका—मक्खी, मच्छर, खटमर, जुएँ, चूहे, साँप, बिच्छू आदि इस बात के लिए विवश करते हैं कि आत्मरक्षा का प्रबंध किया जाए और आक्रांताओं को हटाने के लिए साहस अपनाया जाए। यही बात सर्वत्र देखी जाती है। अनौचित्य को सहन करते रहने से तो अपना अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा, दूसरी हानि यह होगी कि आक्रमणकारी निर्द्वंद्व होकर अपनी दुष्टता को अधिक बड़े परिमाण में प्रयुक्त करेंगे जो कि कष्टकर होगा। साहस और साधन बढ़ते रहने से वे अधिक परिपुष्ट होंगे और कुछ व्यक्ति अन्यों के लिए भारी

विपत्ति का कारण बनेंगे ॥ २७-३१ ॥

व्याख्या—बहिरंग जगत में भी दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि उनसे बच पाना संभव नहीं। उपाय एक ही है, उनसे संघर्ष किया जाए, दुष्टता को सहन न कर उसका प्रतिकार किया जाए। मनुष्य जैसे समर्थ प्राणी के लिए इससे हेय प्रसंग क्या हो सकता है कि कुछ गिने-चुने दुर्धर्ष व्यक्ति असंख्यों के लिए कष्ट का कारण बनें। कारण एक ही है दुष्टता को सहन किया गया, इसीलिए वह दूने परिमाण में और भी निर्द्वंद्व होकर आक्रमण करने का साहस कर सकी।

मक्खी-मच्छर जैसे जीव प्राणी जगत में हैं पर इस वृत्ति के व्यक्ति भी समाज में होते हैं। उनकी उपस्थिति यही माँग करती है कि उनसे सचेत रहा जाए व जमकर मोरचा लिया जाए।

अनीत्याचरणं पापं यथा भीरुतया तथा।

तस्या अप्रतिरोधोऽपि पापमेवानुविद्यते ॥ ३२ ॥

वस्तुतो भीरवस्ते हि दुष्टतां पोषयन्त्यलम्।

वरं संघर्षशीलास्ते स्वयं ग्रहणंतु हानिकाम् ॥ ३३ ॥

परं साहसिका तेषां धर्मनिष्ठा तु या तथा।

निर्दोषाणामसंख्यानां रक्षा भवति सर्वथा ॥ ३४ ॥

टीका—अनीति करना जितना पाप है, उतना ही कायरतावश उसका प्रतिरोध न करना भी पाप है। वस्तुतः कायर ही दुष्टता का परिपोषण करते हैं। जूझने वाले स्वयं भले ही घाटे में रहें पर उनकी इस साहसिक धर्मनिष्ठा से असंख्य निर्दोषों की रक्षा होती है ॥ ३२-३४ ॥

व्याख्या—कायर मनुष्य अनाचार के सामने घुटने टेक देते हैं, दुम दबाकर भाग जाते हैं अथवा उसे सहन करते रहते हैं। इससे प्रकारांतर से अनीति को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत प्राणवान जीवनधारी मनुष्य अकेले बिना किसी योजना निर्धारण के तो कभी लड़ते नहीं, परंतु अपने आपको जुटाकर बिखराव समेटकर शक्ति भर प्रतिकार करते हैं, भले ही इसमें उनकी जान ही क्यों न चली जाए।

आतंकवादिनां भक्तुं साहसं प्रतिरोधनात्।

अतिरिक्तं न मार्गं तत्किमप्यस्ति महामुने ॥ ३५ ॥

कः प्रभावो हिंस्रकेषु पशुष्वास्ते च दुर्जनाः।

धर्मोपदेशबोद्धारः किं भवन्ति विचार्यताम् ॥ ३६ ॥

यद्येवं संभवेत्तर्हि रावणोऽङ्गदबोधितः।

दुर्योधनश्चकृष्णेन नम्रौ स्यातां न बोधितः ॥ ३७ ॥

लंकाकांडस्य किं स्यातां महाभारतकस्य च।

आवश्यकता यतो देवाः प्रत्याक्रमणरक्षकाः ॥ ३८ ॥

सहनेन सुगुप्त्या वा शांति - प्रार्थनयाऽपि वा।

असुरतायाः कुत्रास्ति आत्मरक्षा सुसंभवा ॥ ३९ ॥

टीका—आतंकवादियों के हौसले तोड़ने के लिए प्रतिरोध

१.४६ प्रज्ञोपनिषद्

के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। हिंस्र पशुओं पर अनुनय-विनय का क्या प्रभाव पड़ता है? दुरात्मा भी धर्मोपदेशक कहाँ सुनते हैं यह विचार लो यदि ऐसा होता तो अंगद के समझाने पर रावण और कृष्ण के समझाने पर दुर्योधन बदल न गया होता? तब लंकाकांड और महाभारत की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? देवता प्रत्याक्रमण के बाद ही आत्मरक्षा कर सके हैं? सहने, छिपने और शांति की रट लगाने से भी असुरता से आत्मरक्षा कहाँ होती है ॥ ३५-३९ ॥

व्याख्या—अनीति के पक्षधर मानवता के शत्रु होते हैं, उन्हें हिंसक खूँखार प्राणी के समकक्ष ही समझा जाना चाहिए। उन्हें मात्र प्रतिरोध की भाषा समझ में आती है, सत्परामर्श और शांति संधि की चर्चा उनसे नहीं की जाती। वे अंदर से बाहर तक कुटिल दुर्बुद्धि व दुराचार से भरे पड़े होते हैं।

अनीत्यातङ्कहेतोर्था घटना दुःखदायिकाः।

दृश्यन्ते, दृश्यमानानां प्रतिरोद्धं मनो भवेत् ॥ ४० ॥

अज्ञानं चाप्यभावश्चावाञ्छनीयौ मतौ तथा।

यद्यप्येतौ तु विद्येते परोक्षौ व्यक्तिगौ ध्रुवम् ॥ ४१ ॥

अनयोर्हेतुना व्यक्तिः समाजश्चार्तयंत्रणाः।

सहेते स भवेत्तस्मात्प्रतिरोधोऽप्यनीतिवत् ॥ ४२ ॥

न्यायिकः प्रतिबंधोऽस्ति विरोधोऽनीतिपद्धतेः।

राजसत्तारुणद्वयेन, नैतौरोद्धं किमप्यहो ॥ ४३ ॥

अनयोरस्ति दायित्वं लोकसेविनरेषु हि।

सुधारकेषु शूरेषु तेऽग्रगा दूरयन्त्विमौ ॥ ४४ ॥

प्रत्यक्षं दृश्यते हानिर्या तु साक्रमणोदिता।

प्रत्यक्षवादिनोऽवाञ्छनीयता तास्तु संजगुः ॥ ४५ ॥

दूरीकर्तुं च तान्येव निरतास्ते भवंति हि।

विरलाः केचनैवेदं जानन्ति पुरुषास्तु यत् ॥ ४६ ॥

अग्निवज्ज्वलका नैव घृणा वल्मीककास्तथा।

तेजसाप्यं च कुर्वन्ति लौहस्तंभं धराशयम् ॥ ४७ ॥

टीका—अनीति के आतंक से जो दुर्घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ही ध्यान में आती हैं और प्रतिरोध की बात सोची जाती है, किंतु व्यक्तिगत एवं परोक्ष होते हुए भी अज्ञान तथा अभाव भी उतने ही अवाञ्छनीय हैं। इनके कारण भी व्यक्ति तथा समाज को असह्य यंत्रणाएँ सहनी पड़ती हैं। इसलिए उनका प्रतिरोध अनीति की तरह ही होना चाहिए। अनीति के विरुद्ध कानूनी प्रतिबंध है और राजसत्ता उसकी रोकथाम करती है किंतु अज्ञान और अभाव के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष मोरचा नहीं है। इसे सँभालने का उत्तरदायित्व लोकसेवी सुधारक शूरवीरों के कंधों पर रहा है। उन्हें ही आगे बढ़कर इन अवाञ्छनीयताओं को निरस्त करना होता है। आक्रमणों से होने वाली हानि प्रत्यक्ष दीखती है इसलिए प्रत्यक्षवादी उन्हीं को अवाञ्छनीयता समझते और निरस्त करने में लगे रहते हैं। यह

विरले ही जानते हैं कि आग की तरह प्रज्वलनशील न होने पर भी तेजाब, घुन, दीमक आदि भी सुदृढ़ शहतीर को धराशायी बना देते हैं ॥ ४०-४७ ॥

व्याख्या—अज्ञान वह जो औचित्य-अनौचित्य में अंतर न कर सके, अभाव यह जो कर्म से पलायन की ओर मनुष्य के उन्मुख होने से उत्पन्न हुआ हो। दोनों असुर सहोदर हैं जो बौद्धिक ज्ञान एवं भौतिक वैभव से नहीं मान्यता से संबंध रखते हैं। अज्ञान पढ़े-लिखों और अपढ़ों में समान रूप से व्याप्त होता है। सुशिक्षित व्यक्ति वाञ्छनीय-अवाञ्छनीय में भेद कर पाएँ, जरूरी नहीं। सारे अंधविश्वास एवं मूढ़ मान्यताएँ यहीं से जन्म लेती हैं एवं समाज को खोखला व व्यक्ति को दरिद्र बना देती हैं।

अनीति प्रत्यक्ष होने, आक्रमण होने के कारण दिखाई भी पड़ जाती है और समाज को अज्ञान और अभाव में उतना ही त्रस्त किए हैं, जितना अनीति-अनाचार। सामान्यतया संघर्ष की बात सोची जाती है तो वह हिंसा, अपराध, दमन, शोषण, जैसे अनाचारों के विरुद्ध ही होती है पर एक परोक्ष मोरचा ऐसा है जो सतत् संघर्ष की जूझने की आवश्यकता बताता है। राजसत्ता अनीति के लिए सुरक्षा व्यवस्था बनाती है पर अज्ञान-अभाव का मोरचा तो मात्र समाज सुधारक ही सँभाल सकते हैं जो जनहित के लिए समर्पित हों, रोग का लक्षण जानकर चिकित्सा हेतु सदैव उद्यत रहते हों।

भ्रष्टता चिंतनस्याथ दुष्टताचरणस्य च।

मान्यतामोहरूपास्ता अंधाश्चापि परंपराः ॥ ४८ ॥

दुष्प्रवृत्तय एतास्तु ज्ञायतां हे मुनीश्वराः।

आक्रामिकात्वनीतिर्या सैव तास्तु भयंकराः ॥ ४९ ॥

विनाशलीलाः कुर्वन्ति ये चाक्रांतार एव ते।

व्यक्तित्वादथ शक्यंते ग्रहीतुं च नियंत्रितुम् ॥ ५० ॥

दुष्प्रवृत्तय एतास्तु स्वभावे मानवस्य हि।

प्रविष्टा नैव दृश्यन्ते नैव दुर्वन्ति चाप्यलम् ॥ ५१ ॥

कठोरप्रतिरोधस्य सामुख्यं नैव कुर्वते।

संघर्षशीलताक्षेत्रमत्यन्तं व्यापकं मतम् ॥ ५२ ॥

टीका—चिंतन की भ्रष्टता, आचरण की दुष्टता, मूढ़ मान्यताएँ, अंध परंपराएँ जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भी आक्रामक अनीति की तरह ही भयावह होती और विनाशलीला रचती हैं। आक्रमणकारी व्यक्ति होने से वे सहज ही पकड़े और दबाए भी जा सकते हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव में घुसी होने के कारण दीखती भी नहीं, अखरती भी नहीं और कड़े प्रतिरोध का सामना करने से भी बची रहती हैं। संघर्षशीलता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है ॥ ४८-५२ ॥

व्याख्या—जो हानि परोक्ष है, चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देती इसलिए हानि नहीं लगती। वैयक्तिक दुष्चिंतन और

उससे प्रेरित दुर्व्यवहार तथा अविवेक पूर्ण प्रचलन उतने ही भयंकर हैं जितने कि व्यापक स्तर पर हिंसक आक्रमण। अज्ञान-अभाव जन्य ये दुष्प्रवृत्तियाँ धुन की दीमक की तरह समाजरूपी भवन को निरंतर धीरे-धीरे नष्ट करती रहती हैं। ऊपर से भले ही समाज विकास की दिशा में बढ़ता दिखाई दे, पर ये परोक्ष दुष्प्रवृत्तियाँ जितनी आर्थिक, सामाजिक, नैतिक हानि समाज को अब तक पहुँचा रही हैं, उसकी गणना आँकड़ों में नहीं की जा सकती।

सतीत्व हरण, पर्दाप्रथा, दहेज, विवाह में अपव्यय-प्रदर्शन, अंधविश्वास-भूतपत्नीत, ओझागिरी, झाड़ू फूँक, नशाखोरी, फिजूलखरची, फलित ज्योतिष, बेईमानी, मिलावट, रिश्वतखोरी आदि ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति, परिवार, समाज से सीधे संबंध रखती हैं। इनसे संघर्ष भी उसी व्यापक स्तर पर लिया जाना चाहिए जैसा कि प्रत्यक्ष अपराधों के विरुद्ध लिया जाता है। ये प्रचलन किस प्रकार जन्म लेते हैं इनका कारण जानने पर क्षोभ तो होता ही है, हँसी भी आती है।

एकं क्षेत्रं चिंतनस्य व्यक्तिगस्य मतं तथा।

स्वभावाचरणाभ्याससम्मानानां च विद्यते ॥ ५३ ॥

पशुवृत्तेः संचिता ये कुसंस्कारास्त एषु हि।

क्षेत्रेषु दृढमूलाश्च स्थिताः सूक्ष्मेक्षिकाबलात् ॥ ५४ ॥

अन्विष्यैतांस्तथाहानिरेतेषामनुमाय च।

निरस्तुं योजनायोगः सुसंस्कारो विपक्षकः ॥ ५५ ॥

यस्तस्य स्थापनामाद्यं पदं प्रगतिशालिनी।

धर्मनिष्ठा तु या तस्या जगद्वश्यं जितात्मनः ॥ ५६ ॥

टीका—एक क्षेत्र अपने व्यक्तिगत चिंतन, स्वभाव, चरित्र एवं अभ्यास, सम्मान का है। पशु प्रवृत्तियों के संचित कुसंस्कार इन्हीं क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाए बैठे रहते हैं। इनको बारीकी से ढूँढ़ना, उनकी हानियों का अनुमान लगाना, निरस्त करने की योजना बनाना, प्रतिद्वंदी सुसंस्कारिता की स्थापना करना प्रगतिशील धर्मनिष्ठा का प्रथमचरण है। जो अपने अंतः को जीतता है, वही बाह्य संसार को जीत सकता है ॥ ५३-५६ ॥

व्याख्या—प्रज्ञा सत्र के प्रथम चार प्रकरणों में महाप्राज्ञ अंतर्जगत का पर्यवेक्षण, आत्म निर्माण, अंतःक्षेत्र का समर इन पक्षों पर चर्चा कर चुके हैं, उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि संघर्ष अपने से आरंभ होता है। पहले अपने ही चिंतन में, संचित संस्कारों एवं अभ्यास के कारण सभी दुष्प्रवृत्तियों से मोरचा लेना पड़ता है।

कुटुम्बं तनुरिवैतत् स्नेहस्तस्मै तु दीयताम्।

प्रगतेः पोषणस्यापि साधनादि च दीयताम् ॥ ५७ ॥

ध्यानमुत्तरदायित्वे दीयतां ते भवन्तु हि।

सुयोग्याश्च समर्थाः सुसंस्काराः स्वावलंबिनः ॥ ५८ ॥

एतदर्थं कुटुम्बस्य पारंपर्य क्रमे मुने।

अपेक्ष्यं भवतीहैतत्परिवर्तनमप्यलम् ॥ ५९ ॥

अस्मै नम्रस्य मंदस्य सौहार्दभरितस्य च।

विरोधशोधनस्यास्ति महत्त्वमिति मन्यताम् ॥ ६० ॥

मोहाद् ये न करिष्यन्ति नरा एतद्धि निश्चितम्।

स्नेहिनः परिवारस्य तेऽहितं साधयंत्यहो ॥ ६१ ॥

टीका—शरीर की तरह परिवार भी है। परिजनों को दुलार भी दिया जाए और पोषण प्रगति के साधन जुटाने में भी कमी न रखी जाए, किंतु इस उत्तरदायित्व को भी ध्यान में रखा जाए कि उनमें से प्रत्येक को सुयोग्य, समर्थ, स्वावलंबी एवं सुसंस्कारी भी बनाना है। हे मुने इसके लिए परिवार के परंपरागत ढर्रे में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ सकता है। इसके लिए धीमे, विनम्र एवं सौहार्दपूर्ण विरोध सुधार की आवश्यकता पड़ेगी ही। जो मोहवश इससे बचेंगे वे स्नेह पात्र परिजनों का निश्चित ही अहित करेंगे ॥ ५७-६१ ॥

व्याख्या—जब आदमी स्वयं लोभ मोह अहंता जैसे बंधनों से छुटकारा पाने में पूरी शक्ति लगा देता है तब उसे निश्चित ही सफलता मिलती है। पर यह क्षेत्र परिवार निर्माण बिना अधूरा ही है। परिवार जनों से मोह अलग बात है उनका हित साधन अलग। परिवार के प्रति एक आँख दुलार व एक आँख सुधार की रखी जाए। अपनी प्रमुख जिम्मेदारी है परिवार परिजनों में सुसंस्कारिता का समावेश। इसमें एक बहुत बड़ी अड़चन आती है बहुत समय से चला आ रहा ढर्रा जिसमें आमूलचूल परिवर्तन अकस्मात् लाना दुष्कर जान पड़ता है। इसे किसी भी स्थिति में सुधारपरक नीति बनाकर किया ही जाना चाहिए। जब आदमी का सुधार धीरे-धीरे होता है तो परिवार में बीजारोपण कर उसे वृक्ष बनते देखने में चमत्कारी प्रतिफल की आशा नहीं करना चाहिए।

सामाजिकेषु बाहुल्यं कुरीतीनां विधिष्वलम्।

भवत्येव तथैकस्य कालस्य रीतयो मुने ॥ ६२ ॥

अयोग्या अपरेकाले हानिदाश्चापि सम्मताः।

जीर्णतायां वरो मान्योनरोरुग्णः श्लथोभवेत् ॥ ६३ ॥

रीतीनां विषयेऽप्येवं जीर्णोद्धार इव क्रमः।

संशोध्याया अथ त्याज्यास्त्याज्याः साहसपूर्वकम् ॥ ६४ ॥

टीका—सामाजिक प्रचलनों में कुरीतियों की भरमार रहती है। एक समय की प्रथाएँ दूसरे समय में अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी बनती रहती हैं। जीर्णता आने पर अच्छा खासा मनुष्य भी अस्त-व्यस्त और रुग्ण रहने लगता है। प्रचलनों के संबंध में भी यही बात है। जिन्हें सुधारना, बदलना आवश्यक हो, उन्हें टूट-फूट की मरम्मत करने की तरह साहसपूर्वक बदल लेना चाहिए ॥ ६२-६४ ॥

व्याख्या—परंपराएँ सामयिक होती हैं, शाश्वत नहीं।

१.४८ प्रज्ञोपनिषद्

समयानुसार उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर ध्यान रख सुधारक उनमें काट-छाँट करते हैं और समाज का कायाकल्प करते हैं। जीर्ण भवन शीघ्र धराशायी होता है। समाज में आज जो परंपराएँ घुसी पड़ी हैं, वे भी इसी प्रकार उसे जीर्ण-शीर्ण बना रही हैं। उन्हें समय-समय पर गौतम बुद्ध, आद्य शंकराचार्य, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, शरतचंद्र, राजा राममोहन राय, स्वा० दयानंद, महामना मालवीय जैसे अवतारी पुरुषों व सुधारक-शूरवीरों ने आ-जाकर सुधारा है व गलाई-ढलाई का उपक्रम अपनाकर समाज को नई दिशा दी है।

लोकप्रवाहकस्यास्ते जलमार्गं तु पंकिलम्।

प्रायोऽल्पाःसज्जनाःसंति बहवोऽसंस्कृता जनाः ॥ ६५ ॥

गतिः साऽनुपयोग्या हि प्रायो रीतिषु धावति।

यथावत् सा नहि ग्राह्या, हंसः क्षीरं जलात् पिबेत् ॥ ६६ ॥

स इवात्रापि कर्तव्या नीरक्षीर - विवेकिता।

ततश्चोचितमास्ते यत्तद्ग्राह्यं मानवैः सदा ॥ ६७ ॥

टीका—लोकप्रवाह के नाले में सदा कूड़ा-करकट ही अधिक बहता है। सज्जनों की संख्या कम और अनगढ़ कुसंस्कारियों की अधिक रहती है। अस्तु प्रथा-प्रचलनों में अनुपयुक्तता का बहुमत ही आगे रहता और उछलता है। उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन् हंस जैसे पानी से दूध पी लेता है, उसकी नीर-क्षीर विवेक बुद्धि अपनाकर जो उचित उपयुक्त हो, मनुष्य को उसी को अपनाना चाहिए ॥ ६५-६७ ॥

व्याख्या—आज अवांछनीयता का प्राधान्य है एवं श्रेष्ठता कम ही दृष्टिगोचर होती है। आस्था संकट की परिणति स्वरूप उत्पन्न यह परिस्थिति उलटी जा सकती है, यदि जन समुदाय को उत्कृष्टतापरक मान्यताओं का पक्षधर बनने के लिए सहमत किया जा सके। यह समाज स्तर पर एक विशाल व्यापक विचार क्रांति से ही संभव है। उचित-अनुचित में भेद बता पाना तो संभव है जब जनमानस विवेक शक्ति-प्रज्ञा का सहारा ले व मात्र उचित को अपनाए औरों को भी अपनाने को प्रेरित करे। जब भी परंपराओं का प्रश्न आए विवेकशील का कर्तव्य है कि वे समूह की बात को सत्य न मानकर मात्र समझदारों की बात न मानें अपनी स्वयं की दृष्टि भी उसी अनुरूप विकसित करें।

आकर्षणानि सर्वस्वं कालिकानि न मन्यताम्।

परिणामेषु कर्तव्यो विचारो दूरगामिषु ॥ ६८ ॥

दुःखदाः परिणामा ये लाभास्तात्कालिकामताः।

त्याज्यास्ते साहसेनैवं भविष्यन्मंगलं व्रजेत् ॥ ६९ ॥

टीका—तात्कालिक आकर्षणों को ही सब कुछ नहीं मानना चाहिए। उसके दूरगामी परिणामों पर भी विचार करना चाहिए। जो परिणाम में दुःखद हो, ऐसे तुरंत के लाभ का

साहसपूर्वक परित्याग ही कर देना चाहिए, इससे भविष्य मंगलमय बन जाएगा ॥ ६८-६९ ॥

व्याख्या—हर मान्यता के निर्धारण में दूरगामी परिणामों का सदैव ध्यान में रखा जाए। दहेज तत्काल तो लाभकारी प्रतीत होता है। लगता है यश मिल रहा है, सबकी निगाहों में हम ऊँचे हैं, हमारी बेटी सुखी रहेगी पर जब विवाहोपरांत अनापशनाप माँगे आने लगती हैं तो अपनी अदूरदर्शिता पर दुःख होता है। यही पिता अपनी लड़की के विवाह में तो आदर्श की डींग हाँकने में नहीं हिचकता पर जब बेटे का ब्याह समीप आता है तो सारे आदर्श न जाने कहाँ तिरोहित हो जाते हैं। हर व्यक्ति यह संकल्प ले ले कि हम दूरदर्शिता अपनाएँगे, समाज में सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु स्वयं से शुभारंभ करेंगे तो इन कुरीतियों के उन्मूलन में देर न लगे।

विवेकयुक्तो य आस्ते परामर्शः स मन्यताम्।

बालानां वा परेषां वा नायोग्य आत्मनामपि ॥ ७० ॥

तथ्यानां गरिमा श्लाघ्यो व्यक्त्यपेक्षतया मुने।

नवीनत्वं पुराणत्वं श्रेष्ठतायै न वाञ्छितम् ॥ ७१ ॥

परं द्रष्टव्यमेतदयत्तथ्यं सत्यं किमस्ति च।

अभ्यस्तं विधिमुत्स्रष्टुं मनो भवति शङ्कितम् ॥ ७२ ॥

परिवर्तनसंक्लेशैर्योद्धुं नोत्सहते जनः।

साहसाभावतोऽनीतेरग्रा आत्मार्पणं ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

टीका—विवेकयुक्त परामर्श छोटे और परायों का भी मानें। अनुपयुक्त निर्देश बड़ों या अपनों का भी नहीं मानना चाहिए। व्यक्तियों की तुलना में तथ्यों की गरिमा अधिक है। बात नई है या पुरानी इस आधार पर उसे वरीयता न दी जाए, वरन् यह देखा जाए कि तथ्य एवं सत्य द्वारा समर्थन किसका होता है। अभ्यस्त ढर्रे को बदलने में मन कच्चा पड़ता है। उलट-पुलट के झंझट से सभी बचना चाहते हैं। इस साहसहीनता के कारण अनीति के सामने सिर झुकाना पड़ता है ॥ ७०-७३ ॥

व्याख्या—सन्मार्ग पर चल पड़ने का परामर्श कहीं से भी मिले, विवेकयुक्त हो तो स्वीकार कर लेना चाहिए चाहे कहने वाला हमसे छोटा ही क्यों न हो। बड़े चाहें तो भी अनौचित्य को स्वीकार न करें। हमेशा बात को तर्क, तथ्य एवं प्रमाणों की कसौटी पर कसें, यह मानकर नहीं कि ऐसा पहले भी होता रहा है इसलिए सही है।

समाज का सहज प्रवाह एक अभ्यस्त ढर्रे के रूप में है। इस ढर्रे को बदलना ही साहसिकता है। मछली धारा को उल्टा चीरकर चलती है और ऊपर पहुँच जाती है। धारा प्रवाह में तो शरीर से बलिष्ठ पर बुद्धि से अल्प हाथी जैसे प्राणी भी बहते देखे जाते हैं। बुद्धिमत्ता इसी में है कि जो भी अनुचित है उसे पलट डालने में जरा भी असमंजस न बरतें।

इस साहस के अभाव में ही अनीति व्यक्ति पर हावी हो जाती है।

शूरा अपि च वीराश्च विख्याता ये जनास्तु ते।
दृश्यन्ते दुर्बलाः प्रायः क्षेत्रे सैद्धांतिके सदा ॥ ७४ ॥
आत्मविश्वासिनो ये ते सदाऽऽदर्श समर्थने।
एकाकिनः स्थिताः संतु सहायाः संतु वा न वा ॥ ७५ ॥
निन्दाया वा प्रशंसायाश्चिन्ता नैवात्रयुज्यते।
संघर्षो मल्लयुद्धो न चात्रासीषुनिपातनम् ॥ ७६ ॥
उपेक्षया विरोधेन तथैवासहयोगतः।
प्रारंभिकं सुपूर्णं स्यात् प्रयोजनमितिस्फुटम् ॥ ७७ ॥
अनीतिमात्मा जानाति यन्नग्राह्यमदोऽमुना।
सहयोगः कथंचिन्न युज्यते वा समर्थनम् ॥ ७८ ॥

टीका—शूरवीर समझे जाने वाले भी सिद्धांत क्षेत्र में दुर्बल पड़ते हैं। आत्मविश्वासियों को आदर्शों के समर्थन में एकाकी अड़ा रहना चाहिए, साथी हों या न हों। उन्हें निन्दा, प्रशंसा की चिन्ता ऐसे प्रसंगों पर नहीं करनी चाहिए। संघर्ष मल्लयुद्ध को नहीं कहते और न उसमें सदा तीर-तलवार चलाने की ही आवश्यकता पड़ती है। उपेक्षा, असहयोग, विरोध करने से भी संघर्ष का आरंभिक प्रयोजन स्पष्ट पूरा होता है। जिसे आत्मा अनीति माने उसका समर्थन, सहयोग तो किसी भी मूल्य पर नहीं करना चाहिए ॥ ७४-७८ ॥

व्याख्या—बाहर से शूरवीरता की बात करते तो अनेकों देखे जाते हैं पर जब उन सिद्धांतों को व्यवहार में उतारने की बात आती है तब सही परीक्षा होती है। सिद्धांत क्षेत्र की बहादुरी तलवार चलाने वाली क्रिया परक बहादुरी से अलग है यह संपदा है जो कमजोर व्यक्ति को भी अनीति के पक्षधर मजबूत विरोधी से संघर्ष में विजयी बनाती है। महात्मा गाँधी कुल ९६ पौंड के क्षीणकाय व्यक्ति थे। पर उनकी सैद्धांतिक सामर्थ्य करोड़ों हाथियों के बराबर थी। इसी के बल पर वे कभी सूरज न डूबने वाले ब्रिटिश साम्राज्य से मोर्चा ले सके। ऐसा सत्साहस आदमी को अनीति से सहयोग न करने, मोरचा लेने की प्रेरणा देता है।

शारीरं बलमुनेतु संयमः साधनापि च।
कर्तव्येऽर्जितमेतच्च मनोबलमपि दृढम् ॥ ७९ ॥
सत्यस्य निकषे ऽ सिद्धं प्रतिपादनमस्ति यत्।
अस्वीकार्यमिदं नूनं भवत्येव महामुने ॥ ८० ॥
आत्मनो बलमुनेतु सफलास्ते भवन्ति हि।
अवांछनीयताभिर्नो संबद्धास्तु भवन्ति ये ॥ ८१ ॥
ऐश्वर्यं तु समादाय चारित्र्यं चापि केवलम्।
सामर्थ्यामात्मना वाह्या नौकात्मीयेदृशैर्नरैः ॥ ८२ ॥
विना सहगामिनो ऽप्येते विनैव च समर्थनम्।
नीतिमार्गेऽभयं यांति न गच्छन्त्यसमंजसम् ॥ ८३ ॥

टीका—शरीर बल उभारने के लिए संयम-साधना करनी पड़ती है दृढ़ मनोबल अर्जित करने के लिए तथ्य और सत्य की कसौटी पर खोटे सिद्ध होने वाले प्रतिपादनों को अस्वीकार करना होता है। आत्मबल बढ़ा सकने में वे ही सफल होते हैं, जो अवांछनीयता से समझौता नहीं करते। ईमान और भगवान का समर्थन लेकर अपनी नाव आप खेते चले जाते हैं। साथी और समर्थक न होने पर भी नीति पथ पर अकेले चलते रहने में भी उन्हें कोई भय, असमंजस नहीं लगता ॥ ७९-८३ ॥

यांति साहसिका ह्यग्रे सफलाः सपराक्रमाः।

भवन्ति, प्रतिकूलाभिः स्थितिभिर्युद्धमाचरेत् ॥ ८४ ॥

अनीत्यायुद्धयमानैर्न हानिलाभौ तु गण्यताम्।

प्रखरताया विना कोऽपि क्षेत्रे कुत्रापि प्रोद्भवेत् ॥ ८५ ॥

पराक्रमः श्लाघनीयः सार्थं साहसिकैर्मिलेत्।

सौजन्यं शोभते स्फीतं जायते साहसेन च ॥ ८६ ॥

टीका—साहसी ही आगे बढ़ते हैं, पराक्रमी ही सफल होते हैं। प्रतिकूलताओं से जूझना ही पड़ता है, अनीति से टकराने में हानि-लाभ का विचार नहीं करना चाहिए। प्रखरता के बिना किसी भी क्षेत्र में कोई बड़ी प्रगति कर सकने में सफल नहीं होता। पराक्रम ही सराहा जाता है। साहसी को साथी मिलते हैं। सज्जनता की शोभा साहसिकता से ही निखरती है ॥ ८४-८६ ॥

व्याख्या—साहसी का जीवन क्रम किस प्रकार होता है, इस पर किसी कवि ने कहा है।

लीक लीक गाड़ी चले, लीकहिं चले कपूत।

बिना लीक के ये चलें, शायर, सिंह, सपूत ॥

ऐसे बिना किसी बंधन के प्रतिकूलताओं से मोरचा लेकर भी घाटा सहकर भी आनंद लेने वाले सच्चे पराक्रमी कहलाए जाते हैं। सज्जनता और साहस दोनों का अद्भुत युग्म ऐसे नर पुगंवों में देखने को मिलता है। इस पथ पर चलते-चलते उन्हें साथी मिलते चले जाते हैं। महात्मा गाँधी को अफ्रीका आंदोलन से भारत को स्वतंत्रता मिलने तक बराबर साथी मिलते चले गए। अँगरेजों से जूझते हुए भी महात्मा नाम के अनुरूप शालीनता को यथावत् रखते हुए उनमें वह प्रखरता थी कि सम्राट् व वाइसराय उनसे आँख नहीं मिला पाते थे।

ऐसे जितने भी व्यक्ति ऊँचे उठे हैं, अपने साहस-प्रखरता संपादन के बल पर ही। गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, गणेश शंकर विद्यार्थी, वल्लभ भाई पटेल, लाला लाजपतराय जैसे महामानव अपनी प्रखरता के बल पर ही सम्मान पा सके और भारत भूमि की स्वतंत्रता हेतु अपना जीवनोत्सर्ग कर सदा के लिए अमर हो गए। प्रखरता वह आध्यात्मिक गुण संपदा है जो सज्जनता के साथ शोभा पाकर निखर उठती है। ऐसे व्यक्ति आत्मबल के सहारे बिना किसी

१.५० प्रज्ञोपनिषद्

भय के बढ़ चलते हैं।

दुर्वासास्तु महर्षिः स मान्यतानां समर्थनम्।

श्रुत्वा स्वानां प्रसन्नो ऽभूद्विवशोऽचिन्तयत्तथा ॥ ८७ ॥

क्रोधावेशाच्चपंगुः स्यान्नरोऽन्यांश्छिक्षयेत्किमु।

विकृतो जायतेऽसिद्धः किं परान् साधयेदहो ॥ ८८ ॥

संशोधनविधौ भावं गृहीत्वा सर्वदैव तु।

चिकित्सकस्य रुग्णस्य स्निग्धं परुषमाचरेत् ॥ ८९ ॥

टीका—महर्षि दुर्वासा अपनी मान्यताओं का समर्थन सुनकर प्रसन्न तो हुए पर साथ ही यह भूल सुधारने के लिए भी विवश हुए कि क्रोध के आवेश में मनुष्य स्वयं अपंग हो जाता है और दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को ही बिगाड़ बैठता है। स्वयं न सुधरा हुआ दूसरों को क्या सुधारेगा। सुधार प्रक्रिया में रोगी और चिकित्सक का भाव रखकर स्नेहभरी कठोरता बरतने की आवश्यकता है ॥ ८७-८९ ॥

व्याख्या—सारा प्रतिपादन सुनकर महर्षि दुर्वासा ने यह अनुभव किया कि प्रखरता की महत्ता तो है पर वह आवेशयुक्त न होकर शालीनता युक्त हो। सुधारने की प्रक्रिया में यदि व्यक्ति स्वयं आवेशग्रस्त हो जाए तो उसके वचनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति दूसरों को क्या सुधारेंगे। संत तो चिकित्सक के समान होता है जो आवश्यकता पड़ने पर हितकारी परामर्श भी पथ्य व कड़वी दवा के रूप में कठोरतापूर्वक देता है और स्नेह सहानुभूति भी। सन्निपात की अवस्था में रोगी उसे कुछ भी कह दे, वह उसे कुछ नहीं कहता। पर जहाँ आवश्यकता पड़ती है वहाँ उससे कठोरता से पेश आने में भी कोई कमी नहीं छोड़ता। इसीलिए सज्जनता

व प्रखरता साथ चलना चाहिए। आवेश में आने वाला समय पर अपने बल का भी प्रयोग नहीं कर पाता।

समाप्तं पंचमं सत्रं तदारण्यकमथात्र ते।

श्रोतारो ब्रह्मविद्याया महत्त्वं मेनिरे भृशम् ॥ ९० ॥

प्रतिपादितं तयायच्चतदाध्यात्मिक - वैभवम्।

गरिमा पंचशीलस्य सावधानैरबुद्ध्यत ॥ ९१ ॥

आध्यात्मिकत्वमास्तिक्यं धार्मिकत्वमुदारहत्।

भक्तिभावस्तुयस्तस्यानौचित्यस्यापि संमुखे ॥ ९२ ॥

संघर्षशीलतां प्राप्तुं व्रतिनस्ते ऽभवन् समे।

संस्कृतेर्देवतानां तु निर्धारणगणस्य तु ॥ ९३ ॥

आलोकं प्रतिवेशमाथ गत्वा लोकस्य मानसे।

संस्थापितुं प्रव्रज्यायां चर्चायां तेऽचलन्मुदा ॥ ९४ ॥

इत्थं पंचदिनस्येदं सत्रमारण्यकं बृहत्।

सोत्साहं च समुल्लासं साफल्यं समुपेयिवत् ॥ ९५ ॥

टीका—पाँचवें दिन का आरण्यक सत्र समाप्त हुआ।

श्रवणकर्त्ताओं ने ब्रह्मविद्या का महत्त्व समझा तथा उसके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक पंचशीलों की गरिमा को ध्यानपूर्वक समझा और वे आध्यात्मिकता, आस्तिकता, धार्मिकता, उदारभक्ति भावना तथा अनौचित्य के विरोध में संघर्षशीलता अपनाने के लिए व्रतशील हुए, साथ ही देव-संस्कृति के इन सभी निर्धारणों का आलोक घर-घर जाकर जन-जन के मन-मन में उतारने के लिए प्रव्रज्या पर प्रसन्नतापूर्वक निकल पड़े। इस प्रकार वह पंचदिवसीय आरण्यक सत्र बड़ी सफलतापूर्वक संपन्न हुआ और उत्साह भरे वातावरण में समाप्त हो गया ॥ ९०-९५ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री पिप्पलाद-दुर्वासा ऋषि-संवादे सत्साहस-संघर्ष इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥